

विवेकानन्द के धर्म और मानवतावाद के प्रत्ययों का दार्शनिक विवेचन

सीमा देवी*

सारांश

धर्म शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की 'धि' नामक धातु से हुई है, जिसका अर्थ है—धारण करना। जो लोक (संसार) को धारण करता है। धर्म वस्तुतः अनुभूति का साक्षात् विषय होता है। विवेकानन्द ने धर्म के स्वरूप के दो पक्ष स्पष्ट किए हैं—आन्तरिक पक्ष और बाह्य पक्ष। उन्होंने आन्तरिक पक्ष को धार्मिक अनुभूति कहा है जो हर व्यक्ति में है। अतः यह धार्मिक अनुभूति सार्वभौम है। विवेकानन्द ने धर्म को मानवता की आत्मा में आधारभूत रूप में बताया है कि जो भीतर है, समस्त जीवन उसी का विकास है। भारतवर्ष में धर्म को सर्वोपरि माना जाता है जो कि राष्ट्र की रीढ़ है व जिस पर राष्ट्र रूपी इमारत खड़ी है। प्रत्येक मनुष्य में उस अनन्त आत्मा का निवास है जो सर्वव्यापी है। इसलिए सभी को ईश्वर समझकर उनकी सेवा करो, क्योंकि इन रोगी, कोढ़ी, पागल, पापी आदि स्वरूपों में विचरते हुए प्रभु की सेवा करके ही हम अपना उद्धार कर सकते हैं। उनके अनुसार ऐसे धर्म की आवश्यकता है जिससे हम मनुष्य बन सकें और यह सब आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने पर ही सम्भव है, क्योंकि धर्म व आध्यात्मिकता ही ऐसे मुख्य आधार है जिन पर भारतीय जीवन निर्भर रहा है और भविष्य में भी इसे इसी पर निर्भर रहना है।

मुख्य शब्द—उपवास, धार्मिकता, ईश्वरत्व, पौराणिक, अनुष्ठानिक, सूक्ष्म, इन्द्रियाग्राह्य, अनुभूत, अमानवीय, अधःपतन, जर्जरित, अखंड व संकुचित।

साधारणतः धर्म का अर्थ हिन्दू, इस्लाम, बौद्ध, ईसाई आदि ऐतिहासिक धर्मों से समझा जाता है। धर्म शब्द की व्युत्पत्ति 'धि' नामक धातु से हुई है, जिसका अर्थ है—धारण करना। जो लोक (संसार) को धारण करता है। वैशेषिक दर्शन में महर्षि कणाद ने कहा है — 'यतोभ्युदय निःश्रेयसिद्धि स धर्मः' अर्थात् धर्म वह है जो मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति और कल्याण में सहायक हो।

धर्म के विषय में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इसका सम्बन्ध क्रियापद्धति से है, कर्मकांड से है और यह किसी न किसी रूप में नैतिकता से सम्बद्ध

है। धर्म का आधार आस्था व विश्वास है। धर्म वस्तुतः अनुभूति का साक्षात् विषय होता है। इसके अन्तर्गत पूजा—पाठ, ईश्वर की स्तुति, व्रत, उपवास, सामूहिक मानव व्यापार आदि का समावेश निश्चित रूप से होता है। अतः धर्म मनुष्य की एक मनोदशा या आन्तरिक अभिवृत्ति है जो मनुष्य के सर्वांगीण जीवन को प्रभावित करती है। विवेकानन्द स्वीकार करते हैं कि धर्म की कोई निश्चित परिभाषा नहीं दी जा सकती और न ही धर्म के स्वरूप का निश्चित विवरण दिया जा सकता है। वैसे तो धर्म की असंख्य परिभाषाएँ दी गई हैं, जो कि गलत नहीं हैं, लेकिन उनमें से कोई भी धर्म के सभी पक्षों को पूर्णतया समाविष्ट नहीं कर पाती।

विवेकानन्द ने धर्म के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए धर्म के दो पक्ष बताए हैं — आन्तरिक पक्ष और बाह्य पक्ष। धर्म का बाह्य पक्ष कर्मकांड से सम्बन्धित है, जिसमें हम पूजा—पाठ, हवन आदि से प्रकृति में निहित शक्ति की पूजा कर अदृश्य शक्ति की ओर बढ़ना चाहते हैं। धर्म का यह बाह्य पक्ष अनावश्यक या अप्रासंगिक नहीं है। वास्तव में धर्म का यह बाह्य पक्ष तब अर्थपूर्ण हो जाता है जब उसे आन्तरिक पक्ष का समर्थन प्राप्त रहता है। अतः विवेकानन्द ने धर्म के आन्तरिक पक्ष को धार्मिक अनुभूति कहा है और उनके अनुसार धर्म की विशिष्टता को समझने के लिए बाह्य पक्ष के स्थान पर आन्तरिक पक्ष पर ध्यान केन्द्रित करना आवश्यक है। विवेकानन्द के अनुसार 'धर्म का अर्थ आध्यात्मिकता को जागृत करना है या अपने अन्तर में 'ईश्वरत्व' को जगाना है।'¹

विवेकानन्द का कथन है कि धर्म के स्वरूप को समझने के लिए पहले धार्मिकता को समझना आवश्यक है, धार्मिकता धर्मबोध है, धार्मिक चेतना है, यह एक विशेष प्रकार की आन्तरिक अनुभूति है, जिसकी हर प्रकार की अभिव्यक्ति धर्म का स्वरूप स्पष्ट करती है। वे कहते हैं कि धार्मिकता की अनुभूति, धार्मिक चेतना सार्वभौम है, हर व्यक्ति में है। जो व्यक्ति अपने आप को नास्तिक कहते हैं, उनमें भी धार्मिकता की अनुभूति विद्यमान है जैसे बुद्ध तथा महावीर में भी धार्मिकता की अनुभूति विद्यमान है। अतः धार्मिक अनुभूति सार्वभौम है। विवेकानन्द धर्म, सिद्धान्त, मत एवं अन्धविश्वासों को स्वीकार नहीं करते थे। उनके अनुसार ईश्वर न मन्दिर में, न मस्जिद में और न गिरजाघर में है। ईश्वर की उपलब्धि केवल आध्यात्मिक अनुभूति से ही होती है।

धर्म के स्वरूप के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि जिस प्रकार धर्म के दो पक्ष होते हैं, उसी प्रकार विवेकानन्द के अनुसार 'प्रत्येक धर्म में तीन भाग होते हैं — दार्शनिक, पौराणिक और आनुष्ठानिक भाग।'² दार्शनिक भाग में धर्म का सारा विषय अर्थात् मूल तत्त्व, उद्देश्य और उसकी प्राप्ति के साधन निहित होते हैं। पौराणिक भाग में स्थूल उदाहरणों के द्वारा दार्शनिक भाग को स्पष्ट किया जाता है। इसमें मनुष्यों तथा अलौकिक पुरुषों के जीवन के उपाख्यान आदि होते हैं।

*शोध—छात्रा (पीएच.डी.) दर्शन—विभाग कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय कुरुक्षेत्र (हरियाणा)

इसमें सूक्ष्म दार्शनिक तत्त्व, मनुष्यों या अतिप्राकृतिक पुरुषों के थोड़े बहुत काल्पनिक जीवन के उदाहरणों द्वारा समझाए जाते हैं। तीसरा है—आनुष्ठानिक भाग जो धर्म का स्थूल भाग है। इसमें पूजा—पद्धति, आचार, अनुष्ठान, विविध शारीरिक अंग—विन्यास, पुष्प, धूप, धूनी, प्रभृति, नाना प्रकार की इन्द्रियग्राह्य वस्तुएँ हैं, जिनको मिलाकर आनुष्ठानिक धर्म का संगठन होता है। अतः सभी प्रसिद्ध धर्मों के तीन विभाग होते हैं। कोई धर्म दार्शनिक भाग पर अत्यधिक जोर देता है, तो कोई अन्य भागों पर। अतः प्रत्येक धर्म में तीनों भागों का होना अनिवार्य होता है।

विवेकानन्द वेदान्त के इस मत को स्वीकारते हैं कि धर्म अनुभूति है। धर्म वर्तमान में अनुभूत होने वाला विषय है क्योंकि उसके अनुसार यह जन्म और वह जन्म, इहलोक और परलोक में सारी बातें अन्धविश्वास और पूर्व धारणाओं पर आधारित है। धर्म की अनुभूति यहीं हो सकती है और धार्मिक होने का अर्थ है — किसी धर्म की शरण में गए बिना अपनी साधना द्वारा धार्मिक अनुभूति प्राप्त करना। अतः “आत्मज्ञान ही धर्म है और जिसे उसकी उपलब्धि हो चुकी है, वही धार्मिक है।”³

हिन्दू सिद्धान्त के अनुसार — “धर्म कहीं बाहर से नहीं आता, बल्कि व्यक्ति के अभ्यन्तर से ही उदित होता है।”⁴ विवेकानन्द भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि धार्मिक विचार मनुष्य की रचना में ही निहित होते हैं और मनुष्य धर्म का त्याग तब तक नहीं कर सकता, जब तक मनुष्य का शरीर है, मन है, मस्तिष्क है, जीवन है। जब तक मनुष्य में सोचने की शक्ति रहेगी, तब तक यह संघर्ष चलता रहेगा और तब तक धर्म भी किसी न किसी रूप में रहेगा। इस प्रकार विश्व में हमें धर्म के विभिन्न रूप मिलते हैं।

धर्म के इन विभिन्न रूपों में धर्म का कर्मकांडिक रूप, वैचारिक रूप तथा अनुभूति रूप मुख्य है। विवेकानन्द हमें बताते हैं कि धर्म ही सर्वोच्च ज्ञान है, वही सर्वोच्च विद्या है। वह न पैसों से खरीदा जा सकता और न ही पुस्तकों से प्राप्त किया जा सकता है। चाहे मनुष्य संसार का कोना—कोना छान डाले, लेकिन जब तक उसका हृदय धर्म को ग्रहण करने के लिए तैयार नहीं होता, तब तक वह धर्म को नहीं पा सकता।

विवेकानन्द के अनुसार धर्म का अर्थ है “आत्मा को आत्मा के रूप में उपलब्ध करना, न कि जड़ द्रव्य के रूप में।”⁵ धर्म एक विकास है। हर एक को उसका अनुभव स्वयं करना चाहिए क्योंकि स्वयं अनुभव किए बिना धर्म के सम्बन्ध में पाखण्ड व अन्धविश्वास शुरु हो जाते हैं और किसी धर्म का उद्देश्य जितना उच्च होगा, उसका संगठन जितना सूक्ष्म होगा, उसकी क्रियाशीलता भी उतनी ही अद्भूत होती है।⁶ धर्म प्रेरणा से मनुष्यों ने संसार में जो खून की नदियाँ बहायी हैं, जितने चिकित्सालय, धर्मशाला, अन्नक्षेत्र आदि बनाए हैं, किसी अन्य प्रेरणा के द्वारा वैसा नहीं किया गया अर्थात् मनुष्य धर्म—प्रेरणा से प्रेरित होकर ही ये सब कार्य करने को बाध्य है।

‘धर्म—प्रेरणा से मनुष्य जितना निष्ठुर हो जाता है, उतना और किसी प्रेरणा से नहीं; ठीक इसी प्रकार धर्म—प्रेरणा से ही मनुष्य जितना कोमल बनता है, उतना और किसी प्रवृत्ति से नहीं।’⁷ अर्थात् धर्म ही वह शक्ति है जिससे मनुष्य में परिवर्तन हो सकता है। हमें धर्म—प्रेरित कार्य करने में कभी पीछे नहीं हटना चाहिए और जहाँ तक हो सके, सभी को धर्म—प्रेरित कार्य करने के लिए समय—समय पर प्रेरित करते रहना चाहिए ताकि मानव—जाति का सम्पूर्ण कल्याण हो सके और सारी मानवता सुखमय और शान्तिमय जीवन व्यतीत कर सके। अतः धर्म का सही अर्थ समझने की आवश्यकता है।

विवेकानन्द का कहना है कि धर्म मानवता की आत्मा में ही आधारभूत रूप में है और जो भीतर है, समस्त जीवन उसी का विकास है, इसीलिए विभिन्न जातियों और राष्ट्रों के माध्यम से धर्म अपने को अनिवार्यतः प्रकट करता है। विवेकानन्द धर्म की अपनी परिभाषा देते हुए कहते हैं कि ‘यथार्थ धर्म कभी परिवर्तित नहीं होता, क्योंकि धर्म अनुभूति की वस्तु है—वह मुख की बात, मतवाद अथवा मुक्तिमूलक कल्पना मात्र नहीं है—चाहे वह जितना ही सुन्दर हो। आत्मा की ब्रह्म स्वरूपता को जान लेना, तद्रूप हो जाना—उसका साक्षात्कार करना, यही धर्म है वह केवल सुनने या मान लेने की चीज नहीं है। समस्त मन प्राण का विश्वास की वस्तु के साथ एक हो जाना ही धर्म है।’⁸

धर्म के स्वरूप के विषय में विवेकानन्द का विचार है कि धर्म का कोई एक स्वरूप सभी के लिए उपयुक्त नहीं होता क्योंकि सभी धर्म एक सूत्र में पिरोये मोतियों के समान हैं। हमें चाहिए कि हम अन्य सभी बातों को नकारते हुए सभी में व्यक्तित्व को खोजने की कोशिश करें। ‘मनुष्य किसी धर्म में जन्म नहीं लेता, उसका धर्म तो उसकी आत्मा में ही निहित होता है।’⁹ ‘हरेक धर्म का लक्ष्य तथा साध्य भगवत्प्राप्ति ही है।’¹⁰ सभी शिक्षाओं से बड़ी शिक्षा केवल भगवान् की आराधना करने की है। उनके अनुसार यदि हर मनुष्य अपना—अपना एक लक्ष्य बना ले और हर समय उसी पर ध्यान लगाए रखे तो सभी धार्मिक वाद—विवाद समाप्त हो जाएंगे।

अतः भगवत्प्राप्ति ही धर्म है और धर्म एक ही है, लेकिन इसकी साधना में अनेकता होनी ही चाहिए।¹¹ कहने का तात्पर्य यह है कि सभी अपना—अपना धार्मिक संदेश अवश्य दें, लेकिन दूसरे धर्मों में त्रुटि न निकालें, जो कि सारे विवादों, लड़ाई—झगड़ों की जड़ है। यदि उस प्रकाश का दर्शन चाहते हो, तो औपचारिकताओं से परे हो जाओ।

धर्म द्वारा मानव—कल्याण :— जब धर्म के द्वारा मानव—कल्याण की बात आती है तो विवेकानन्द हमें बताते हैं कि व्यक्त या अव्यक्त जिस भाव में रहे, वह शक्ति जरूर है और जितनी शीघ्रता से उस पर विश्वास करोगे, उतना ही कल्याण होगा, क्योंकि समस्त शक्ति तुम्हारे भीतर है जिसके बल पर तुम सब कुछ कर सकते हो। इससे व्यक्ति असम्भव को सम्भव बना सकता है। अपने आप में कभी यह भाव मत आने दो कि तुम दुर्बल हो। यदि हम अपने समस्त कार्य उस परमसत्ता

को सौंपकर करें तो हमारे द्वारा किया गया कोई भी कार्य अनुचित, अशुभ और अमानवीय नहीं होगा, बल्कि सभी दृष्टियों से कल्याणकारी होगा।

उनका कहना है कि मनुष्य जाति के दुःख दूर करने के लिए और मानव-समाज की उन्नति के लिए हमें परमात्मा की सर्वव्यापकता और सर्वत्र समान रूप से उसकी विद्यमानता का प्रचार करना होगा। जहाँ पर बुराई होती है, वहाँ अज्ञान भी मौजूद रहता है। हमें बुराई को दूर करने हेतु लोगों को धर्म का ज्ञान देना होगा। इस अज्ञान रूपी अन्धकार से उन्हें बाहर निकालना होगा। मनुष्यों में विभिन्नताएँ होती हैं और यदि इन विभिन्नताओं के अन्दर ईश्वर के एकत्व पर विश्वास किया जाए तो सब प्रकार से संसार का कल्याण किया जा सकता है। यही वेदान्त का सर्वोच्च आदर्श भी है।

प्रत्येक जाति के लिए उद्देश्य — साधन की अलग-अलग कार्यप्रणालियाँ हैं। कोई राजनीति, कोई समाज-सुधार और कोई किसी दूसरे विषय को अपना प्रधान आधार बनाकर कार्य करती है। हमारे लिए धर्म को आधार मानकर कार्य करने के अतिरिक्त कोई अन्य उपाय नहीं है। वे कहते हैं कि 'अंग्रेज राजनीति के माध्यम से धर्म समझ सकते हैं, अमेरिकन समाज-सुधार के माध्यम से धर्म समझ सकते हैं, परन्तु हिन्दू राजनीति, समाज-विज्ञान और अन्य जो कुछ भी है, सबको धर्म के माध्यम से समझ सकते हैं'¹² क्योंकि भारतीय मन पहले धार्मिक है, बाद में कुछ और। यहाँ राजनीतिक व सामाजिक उन्नति गौण विषय है, मुख्य विषय धर्म है। अतः भारतवर्ष में धर्म को सर्वोपरि माना जाता है। धर्म राष्ट्र की रीढ़ है जिस पर राष्ट्र रूपी इमारत खड़ी है। अतः हमें धर्म को सच्यक्त बनाना होगा।

विवेकानन्द के अनुसार मानव-हित तभी सम्भव हो सकता है, जब हम जाति-पाति का भेद छोड़कर हर एक स्त्री-पुरुष को, प्रत्येक बालक-बालिका को यह संदेश देंगे कि ऊँच-नीच, अमीर-गरीब और बड़े-छोटे सभी में उसी एक अनन्त आत्मा का निवास है, जो सर्वव्यापि है। विवेकानन्द बार-बार यही उपदेश देते हैं कि 'उत्तिष्ठत् जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत्'¹³ अर्थात् 'उठो, जागो और जब तक तुम अपने अन्तिम ध्येय तक नहीं पहुँच पाते, तब तक चैन न लो'¹⁴

भाव यह है कि हमें केवल यह संदेश सुनाना ही नहीं है, बल्कि वास्तव में इसे कार्य में फलीभूत करना है परन्तु यह कार्य इतना सरल नहीं है कि लोगों को संदेश सुना दिया और कार्य हो गया। केवल उपदेश देने से काम नहीं चलेगा। सबसे पहले हमें व्यावहारिक होना होगा और लोगों को मानव-हित कार्यों के लिए जागृत करना होगा। सबको एक समान समझना होगा, क्योंकि कोई भी छोटा या बड़ा नहीं होता है, मनुष्य केवल अपने कर्मों से ही छोटा-बड़ा होता है। परमात्मा की दृष्टि में सब समान है, यह भाव हमें अपने मन में लाना होगा। जब सभी जनों में यह भाव पैदा हो जाएगा और सब अपने स्वार्थ से ऊपर उठकर लोकहित के

लिए कार्य करेंगे, तभी विवेकानन्द द्वारा दिया गया यह संदेश अपनी वास्तविकता को प्राप्त होगा।

विवेकानन्द बताते हैं कि अंग्रेज जैसे ही किसी वस्तु में विश्वास करने लगता है, तुरन्त व्यावहारिक कार्य में जुट जाता है। व्यावहारिक कार्य के लिए उसकी क्षमता अद्भूत है। समस्त संसार में अंग्रेज भद्र पुरुष या महिला से बढ़िया और अनुशासित कोई दूसरा प्राणी नहीं है, क्योंकि वह अपने कार्य के प्रति पूर्णतः समर्पित होता है। तुममें और अंग्रेजों में केवल यही अन्तर है कि वह अपने ऊपर विश्वास करता है लेकिन तुम नहीं। अंग्रेज अपने इसी विश्वास के बल पर जो चाहे करने में समर्थ होता है, लेकिन तुम अपने में विश्वास के फलस्वरूप अकर्मण्य हो गए हो। अतः आज हमें आवश्यकता है — बल की और अपने में अटूट विश्वास की। तात्पर्य यह है कि हमें अपने आप को अयोग्य नहीं मानना चाहिए बल्कि अपने ऊपर यह विश्वास रखना चाहिए कि हममें कुछ भी कर सकने की क्षमता है। मनुष्य का अपने में विश्वास का होना बहुत आवश्यक है। जैसा कि विवेकानन्द ने भी कहा है कि जब तक मनुष्य स्वयं पर विश्वास नहीं करेगा, तब तक वह भगवान् पर भी विश्वास नहीं कर सकता।

धर्म के द्वारा मानव कल्याण करने के सम्बन्ध में उनका कहना है कि हर स्त्री को, हर एक पुरुष को और सभी को ईश्वर के ही समान देखो क्योंकि वास्तव में हम किसी की सहायता नहीं कर सकते, हम केवल सेवा कर सकते हैं और यदि हमें किसी की सेवा करने का अवसर मिलता है तो हम बहुत ही सौभाग्यशाली हैं कि हमें ईश्वर द्वारा सेवा का अधिकार मिला है। मनुष्य को स्वयं को बहुत बड़ा नहीं समझना चाहिए व साथ ही दरिद्र व्यक्तियों में ईश्वर के दर्शन करते हुए मुक्ति के लिए उनके निकट जाकर उनकी पूजा करनी चाहिए। ये दुःखी और कंगाल प्राणी ही हमारी मुक्ति के माध्यम हैं। इन रोगी, पागल, कोढ़ी, पापी आदि स्वरूपों में विचरते हुए प्रभु की सेवा करके हम अपना उद्धार कर सकते हैं।

अर्थात् जिस प्रकार पौधे के बढ़ने के लिए जल, मिट्टी, वायु, पानी आदि पदार्थों का संग्रह कर देने पर वह पौधा अपनी प्रकृति के अनुसार आवश्यक पदार्थों का ग्रहण आप ही कर लेता है और अपने स्वभाव के अनुसार बढ़ता जाता है, उसी प्रकार दूसरों की उन्नति के साधन एकत्र करके उनका हित किया जा सकता है। विवेकानन्द चाहते थे कि भारत में कुछ ऐसे शिक्षालय स्थापित किए जाए, जहाँ पर नवयुवक अपने शास्त्रों के ज्ञान में शिक्षित होकर भारत तथा भारत के बाहर अपने धर्म का प्रचार कर सकें अर्थात् यदि मनुष्य को धर्म की शिक्षा दी जाए, तो फिर वह अपने आप को दुर्बल नहीं समझेगा और उसके विचार सकारात्मक ही होंगे, जिससे उसका अन्य लोगों पर भी सकारात्मक प्रभाव पड़ेगा।

सैंकड़ों वर्षों से लोगों को उनकी हीनावस्था का ही ज्ञान कराया गया है।

उनसे कहा गया है कि तुम कुछ नहीं हो, तुम कुछ नहीं कर सकते, तुम लोग मनुष्य ही नहीं हो। बार-बार यही सुनने के कारण वे पशुत्व को प्राप्त हो गए हैं लेकिन अब समय आ गया है कि उनको आत्मतत्त्व का ज्ञान दिया जाए। उनको बता देना चाहिए कि उनमें नीच से भी नीच में आत्मा विद्यमान है—'वह आत्मा जो न कभी मरती है, न जन्म लेती है, जिसे न तलवार काट सकती है, न आग जला सकती है और न हवा सुखा सकती है।' ¹⁵ 'जो अमर है, अनादि और अनन्त है, जो शुद्धस्वरूप, सर्वव्यापि और सर्वशक्तिमान है।' ¹⁶

अर्थात् मनुष्य को स्वयं को न शक्तिहीन होना चाहिए और न ही शक्तिहीन समझना चाहिए। इन नकारात्मक विचारों को दिमाग से बाहर निकालकर फेंक देना चाहिए। सभी को समान समझना चाहिए, क्योंकि वास्तव में सभी मनुष्य उस परमपिता परमात्मा का ही अंश हैं और सभी में वही ईश्वर है, जो स्वयं में है। अब रोने की आवश्यकता नहीं है, बल्कि अपने पैरों पर खड़े होने की आवश्यकता है। एक ऐसे धर्म की आवश्यकता है जिससे हम मनुष्य बन सकें और हम मनुष्य तभी बनेंगे जब हमें आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त हो जाएगा।

सम्पूर्ण मानव जाति में बहुत सारे कुसंस्कार भरे होते हैं। हमें उन कुसंस्कारों को भारत भूमि से उखाड़ कर फेंक देना चाहिए जिनको हमने सदियों से अपनाया हुआ है, जो कि हमारी जाति के अधःपतन के कारण भी हैं और दिमाग को कमजोर बनाते हैं। हमें उस दिमाग से ही बचना चाहिए जो उच्च व महान चिंतन नहीं कर सकता। विवेकानन्द की दृष्टि में कुसंस्कार का अभिप्रायः हमारे अन्दर का डर है, जिसको वे समस्त संसार में व्याप्त दुःख का कारण भी मानते हैं। भय ही वह सबसे बड़ा कुसंस्कार है जिसके कारण मानव शक्तिहीन बन जाता है। अतः हमें निर्भीक होकर कर्म करना है और समस्त मानव-जाति का कल्याण करना है।

धर्म और सामाजिक विकास— विवेकानन्द के उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट होता है कि धर्म ही वह शक्ति है जिससे मानव-हित सम्भव हो सकता है। लेकिन उनका अभिप्रायः केवल एक मनुष्य के हित से नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण मानव-जाति के हित से सम्बन्धित है। मनुष्य जिस समाज में रहता है सही अर्थों में उसका विकास धर्म को आधार बनाकर ही हो सकता है। विवेकानन्द के सामाजिक विकास के विचारों पर प्रकाश डालने से पहले सामान्यतः सामाजिक विकास का अर्थ समझना आवश्यक है। सामाजिक विकास एक बहुआयामी पद है। इसे कुछ निश्चित परिभाषाओं और सीमाओं के अन्तर्गत देखना कठिन है। सामाजिक विकास को परिभाषित करने से पहले विकास को जानना जरूरी है। विकास का अर्थ एक निश्चित स्थिति से आगे की ओर प्रगति, परिवर्तन और उन्नति से है और प्रगति परिवर्तन की यह मात्रा और गुण दोनों स्पष्ट रूप से दिखाई देने चाहिए। समाज के हर तबके की उसमें हिस्सेदारी हो, कोई वंचित या छूट गए लोग नहीं होने चाहिए। तभी माना जा

सकता है कि विकास की दिशा और दशा सही जा रही है।

अतः सामाजिक विकास सामाजिक परिवर्तन की एक महत्वपूर्ण अवधारणा है जिसके द्वारा परिवर्तन के रूप तथा दिशा की निश्चित ढंग से व्याख्या की जा सके। यह एक समग्र प्रक्रिया है जो अपने भीतर एक निश्चित समाज की समस्त संरचनाओं और आयु, लिंग, सम्पत्ति तथा संस्थानों जैसे परिवार, मनुष्य, जाति, वर्ग, धर्म, शिक्षा आदि को समेटे हुए है। विवेकानन्द के शब्दों में जब सामाजिक विकास की बात आती है तो ज्ञात होता है कि उनका आदर्श राष्ट्रीय मार्ग पर समाज की उन्नति, विस्तृति और विकास है।

उनका कथन है कि राष्ट्रीय जीवन को जिस ईंधन की जरूरत है, देते रहो। फिर वह अपने ढंग से उन्नति करता रहेगा। कोई और उसकी उन्नति का मार्ग निर्दिष्ट नहीं कर सकता। हमारे समाज में बहुत बुराईयाँ हैं परन्तु ऐसा नहीं है कि दूसरे समाजों में बुराईयाँ नहीं हैं। यदि भारतीय और पाश्चात्य देश की तुलना की जाए तो ज्ञात होता है कि यहाँ का जीवन गरीबी की चपेटों से जर्जरित है, तो वहाँ पर लोग विलासिता के विद्ध से जीवन्मृत हो रहे हैं। भारत में लोग इसलिए आत्महत्या करना चाहते हैं कि उनके पास खाने के लिए कुछ नहीं है, तो वहाँ पर खाद्यान्न की प्रचुरता के कारण लोग आत्महत्या करते हैं अर्थात् गरीबी सामाजिक विकास के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा है, ये बुराईयाँ उस पुराने वात-रोग की तरह हैं जिसे पैर से हटाओ तो वह सिर में चला जाता है और फिर वहाँ से शरीर के किसी दूसरे भाग में। उसे केवल एक जगह से दूसरी जगह ही भगाया जा सकता है। अतः बुराईयों के निराकरण की चेष्टा करना ही सही उपाय नहीं है, क्योंकि बुराईयाँ तो कोई भी दिखा सकता है। वास्तव में मानव-समाज का सच्चा हितैषी तो वह है जो इन कठिनाइयों से बाहर निकलने का उपाय बताए।

भारत में शासन सदैव राजाओं का रहा है। राजाओं ने ही सब कानून बनाए हैं। अब राजा लोग नहीं हैं तो इस विषय में अग्रसर होने के लिए हमें मार्ग दिखाने वाला अब कोई नहीं है। सरकार अधिक प्रयास नहीं करती। वह तो जनमत की गति देखकर ही अपनी कार्य-प्रणाली निश्चित करती है। अपनी समस्याओं को हल कर लेने वाला एक कल्याणकारी और प्रबल लोकमत स्थापित करने में बहुत अधिक समय लग जाता है लेकिन तब तक समय और परिस्थितयों के अनुसार आवश्यकताएँ भी बढ़ जाती हैं और उचित मात्रा में विकास नहीं हो पाता। अतः यदि समाज का विकास करना है तो लोगों को और समाज को बदलते समयानुसार जागरूक होना पड़ेगा व एक दूसरे के साथ मिलकर चलना होगा।

विवेकानन्द कहते हैं कि पहले राष्ट्र को शिक्षित करो, अपनी निजी विधायक संस्थाएँ बनाओ, फिर तो कानून अपने आप ही बन जाएंगे। जिस शक्ति के बल से, जिसके अनुमोदन से कानून का गठन होगा, पहले उसकी सृष्टि करो।

आज राजा लोग नहीं है तो क्या हुआ, जिस नई शक्ति से, जिस नए दल की सम्मति से नयी व्यवस्था गठित होगी, पहले उस लोक शक्ति को संगठित करो, विकास स्वतः ही हो जाएगा।

विवेकानन्द ने समाज-सुधार के लिए प्रथम कर्तव्य लोगों को शिक्षित करना बताया है। उन्होंने स्त्री-शिक्षा पर अत्यधिक बल दिया है। उनका मानना था कि यदि स्त्री शिक्षित होगी तो वह अपनी संतान को अच्छे संस्कारों से पोषित करेगी, जिससे एक अच्छे नागरिक का निर्माण होगा और वह देश और समाज को उन्नति की ओर अग्रसर करने में सहायक होगा। वैसे तो समाज-सुधार के लिए काफी आन्दोलन हुए हैं, परन्तु वे केवल ऊपरी दिखावा मात्र ही थे क्योंकि इन आन्दोलनों का सम्बन्ध भारत के केवल उच्च वर्णों से ही रहा है और ये उच्च वर्ण के लोग जनसाधारण का तिरस्कार करके शिक्षित हुए हैं। समाज के केवल एक भाग के सुधार को वास्तविक सुधार नहीं कहा जा सकता। सुधार का अर्थ वस्तु के भीतर उसकी जड़ तक पहुंचना होता है। इसी को हम सुधार कह सकते हैं। “अतः आग जड़ में लगाओ और उसे क्रमशः ऊपर उठने दो एवं एक अखंड भारतीय राष्ट्र संगठित करो।”¹⁷ कहने का भाव यह है कि यदि समाज व देश को ऊँचा उठाना है तो समस्याओं पर विचार करने से कुछ नहीं होगा, बल्कि उनका समाधान ढूँढना होगा। हर मनुष्य को अपनी क्षमता व योग्यतानुसार उन्नति करनी होगी तभी समाज व देश को अवनति के गर्त में डूबने से बचाया जा सकता है।

विवेकानन्द कहते हैं कि किसी प्रकार का सुधार या उन्नति की चेष्टा करने से पहले धर्म-प्रचार आवश्यक है। भारत को समाजवादी अथवा राजनीतिक विचारों से प्लावित करने से पहले आवश्यक है कि उसमें आध्यात्मिक विचारों की बाढ़ ला दी जाए। “भारतवर्ष में धार्मिक जीवन ही राष्ट्रीय जीवन का केन्द्र है और वही राष्ट्रीय जीवनरूपी संगीत का प्रधान स्वर है।”¹⁸ यदि कोई राष्ट्र अपनी स्वाभाविक जीवन-शक्ति को दूर फेंक देने की चेष्टा करे, शताब्दियों से जिस दिशा की ओर उसकी विशेष गति हुई है, उससे मुड़ जाने का प्रयत्न करे और यदि वह राष्ट्र ऐसा करने में सफल हो जाता है तो वह राष्ट्र मृत हो जाता है। इसलिए यदि मनुष्य धर्म से अलग होकर राजनीति, समाजनीति अथवा अन्य किसी दूसरी नीति को अपनी जीवन-शक्ति का केन्द्र बना ले तो उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा। अतः मनुष्य को अपने अस्तित्व को बचाए रखने के लिए धर्म को आधार बनाकर ही अपने सभी कार्य करने चाहिए और अपनी प्रत्येक क्रिया का केन्द्र धर्म को ही बनाना चाहिए। अतः भारत में धर्म का विशेष महत्व है। धर्म ही वह शक्ति है जो हर प्रकार से मानव व समाज को बलवान बनाती है और विकास की एक मजबूत कड़ी है।

विवेकानन्द के अनुसार हमारा यह सोचना है कि संसार में हमारी जाति ही प्रमुख जाति है, हम ही सबसे मुख्य जाति के हैं, उन्नति के मार्ग में बहुत बड़ी

बाधा है। इसलिए हमें दूसरे देशों से सम्बन्ध जोड़ने चाहिए। एक दूसरे से मिलने वाले लाभों से लाभान्वित होना चाहिए। भारत के पतन व दारिद्र्य दुःख का प्रधान कारण यही रहा है कि उसने घोंघे की तरह अपना सब कुछ समेटकर अपना कार्यक्षेत्र संकुचित कर लिया था। लेकिन अब समय आ गया है— अपनी मानसिकता बदलने का, उन्नति करने का, सबको एक साथ लेकर चलने का। अतः जब तक सारे संसार को साथ-साथ उन्नति के पथ पर आगे नहीं बढ़ाया जाएगा, तब तक संसार के किसी भी भाग में किसी भी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं हो सकती।

निष्कर्ष — निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि किसी भी दूसरे देश की अपेक्षा भारत की समस्याएँ अधिक जटिल व बड़ी हैं। जाति, धर्म, भाषा, शासन प्रणाली— ये ही एक साथ मिलकर एक राष्ट्र की सृष्टि करते हैं। यदि अन्य राष्ट्रों से तुलना की जाए तो ज्ञात होता है कि जिन उपादानों से संसार के दूसरे राष्ट्र संगठित हुए हैं, वे संख्या में यहाँ के उपादानों से कम हैं। हमारे पास एकमात्र सम्मिलन भूमि है—वह है हमारी पवित्र परम्परा और हमारा धर्म। एकमात्र सामान्य आधार वही है जिन पर हमें संगठन करना होगा। लोगों में जो मतभेद और विवाद हैं, उनको अपने हित के लिए, अपनी जाति के हित के लिए त्यागना होगा और यह तभी होगा, जब सभी मनुष्य एक ही धर्म को स्वीकार करेंगे। अतः भारत के भविष्य संगठन की पहली शर्त के तौर पर धार्मिक एकता की आवश्यकता है क्योंकि धर्म एवं आध्यात्मिकता ही ऐसा मुख्य आधार है जिसके ऊपर भारतीय जीवन निर्भर रहा है व फला-फूला है तथा इतना ही नहीं, भविष्य में भी इसे इसी पर निर्भर रहना है।

संदर्भ :-

1. लाल, बसन्त कुमार, समकालीन भारतीय दर्शन, मोतीलाल बनारसी दास, प्रथम संस्करण, 1991, पृष्ठ-52
2. स्वामी विवेकानन्द, विवेकानन्द साहित्य, भाग-3, प्रथम संस्करण, 1963, पृष्ठ-141
3. उपरिवत्, भाग-2, पृष्ठ-247
4. उपरिवत्, भाग-2, पृष्ठ-264
5. उपरिवत्, भाग-10, पृष्ठ-30
6. उपरिवत्, भाग-3, पृष्ठ-139
7. उपरिवत्, भाग-3, पृष्ठ-140
8. उपरिवत्, भाग-3, पृष्ठ-159
9. उपरिवत्, भाग-2, पृष्ठ-252
10. उपरिवत्
11. उपरिवत्, भाग-2, पृष्ठ-253
12. उपरिवत्, भाग-5, पृष्ठ-208
13. कठोपनिषद्, 1/3/14
14. स्वामी विवेकानन्द, विवेकानन्द साहित्य, भाग-5, प्रथम संस्करण, 1963, पृष्ठ-89
15. गीता, 2/23
16. स्वामी विवेकानन्द, विवेकानन्द साहित्य, भाग-5, प्रथम संस्करण, 1963, पृष्ठ-119
17. उपरिवत्, भाग-5, पृष्ठ-111
18. उपरिवत्, भाग-5, पृष्ठ-115

